अध्याय 15

भारत का संवैधानिक विकास : सन् 1909 एवं सन् 1919 के भारत के शासन अधिनियम

[CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT OF INDIA : GOVERNMENT OF INDIA ACT 1909 AND 1919]

"यदि सुधारों के विषय में यह कहा जाए कि इससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत में संसदीय सरकार की स्थापना होती है तो मेरा ऐसे कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।"

—लॉर्ड मार्ले

भारत के संवैधानिक विकास के प्रमुख पड़ाव
(Main Halts of Constitutional Development of India)

ब्रिटिश महारानी एलिजाबेथ ने 31 दिसम्बर, सन् 1600 ई. में अंग्रेज व्यापारियों की एक कम्पनी **'ईस्ट इण्डिया कम्पनी'** को यह अनुमति प्रदान की कि वह भारत के साथ व्यापार करे। इस व्यापारिक कम्पनी ने अत्यधिक तेज गति से प्रगति करते हुए भारत के व्यापार पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। उसने इस व्यापारिक प्रतियोगिता में डच, पुर्तगाली और फ्रांसीसी कम्पनियों को बहुत पीछे छोड़ दिया। इस प्रकार 18वीं सदी के मध्य में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली संस्था के रूप में भारत में अपने को स्थापित कर लिया। भारत में व्यापारिक सफलता प्राप्त करने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुछ महत्वाकांक्षी सदस्यों ने भारत में कम्पनी का शासन स्थापित करने की दिशा में सोचना प्रारम्भ कर दिया। इसके लिए कम्पनी ने शक्ति राजनीति के खेल का उपयोग करना शुरू कर दिया। इस खेल के अन्तर्गत कम्पनी ने बंगाल में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। 19वीं सदी के प्रारम्भ होने तक कम्पनी को भारत के एक विशाल क्षेत्र पर विजय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार जब कम्पनी का भारत के विविध क्षेत्रों पर राजनीतिक वर्चस्व स्थापित हो गया, तब कम्पनी की सम्पूर्ण गतिविधियों पर ब्रिटिश सरकार द्वारा विचार किया जाने लगा। ब्रिटिश सरकार में कम्पनी के सभी कार्यों पर पूर्ण नियन्त्रण बनाए रखने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। कम्पनी पर नियन्त्रण बनाए रखने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सन् 1773 ई. में रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित किया। तत्पश्चात् इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् 1784 ई. में पिट इण्डिया एक्ट पास किया गया। इसी प्रकार अन्य अधिनियम सन् 1793, 1813, 1833 और 1885 ई. में भी ब्रिटिश सरकार द्वारा पास किए गए किन्तु इन सभी अधिनियमों के बन जाने के बाद भी ब्रिटिश सरकार भारतीय मामलों पर अपना नियन्त्रण बनाए रखने में सफल न हो सकी।

सन् 1857 ई. का स्वतन्त्रता संग्राम इस दिशा में महत्वपूर्ण मील का पत्थर साबित हुआ। इस स्वतन्त्रता संग्राम के बाद भारत पर कम्पनी का शासन पूरी तरह समाप्त हो गया। ब्रिटेन की संसद ने सन् 1858 ई. में 'सत्ता हस्तान्तरण और भारत के उत्तम प्रशासन हेतु कानून' पास किया और नवम्बर, सन् 1858 ई. में ब्रिटेन के सम्राट् ने भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया।

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1861
(Indian Council Act, 1861)

सन् 1857 ई. के स्वतन्त्रता संग्राम का एक मूल कारण यह था कि शासन करने वालों और जनता के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क सूत्र नहीं था, अतः इस स्थिति को समाप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा सन् 1861 ई. में भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम में भारतीय जनता को प्रशासन से जोड़ने की नीति बनाई गई। इस अधिनियम

Scanned by CamScanner

के अन्तर्गत भारतीयों को कानून बनाने के लिए कार्यकारिणी परिषदों का सदस्य बनाया गया। इस परिषद् को गठित करने में ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य मात्र यही था कि कार्यकारिणी समिति कानून बनाते समय अपना परामर्श दे सके। इस अधिनियम को विधायी क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण की नीति प्रारम्भ करने वाला माना जाता है।

1892 का अधिनियम

सन् 1892 ई. का अधिनियम अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गयी और उनको पहली बार बजट पर बहस करने तथा प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। कहा जाता है कि इसके द्वारा संसदीय सरकार की अप्रत्यक्ष रूप से नींव रख दी गयी, जबकि ब्रिटिश सरकार इस बात से स्पष्ट इन्कार करती रही।

सदस्यों को प्रश्न पूछने और बजट पर बहस करने का जो अधिकार दिया गया, उसके द्वारा वे थोड़ा-सा कार्यकारिणी परिषद् को प्रभावित कर सकते थे। इसलिए कई लेखक मानते हैं कि भारतीयों को शासन में कुछ भाग देने की जो नीति सन् 1861 ई. में प्रारम्भ हुई, उसी को सन् 1892 ई. के एक्ट के द्वारा कुछ सीमा तक व्यवहार में लाया गया। इस एक्ट में अप्रत्यक्ष चुनाव की प्रथा आरम्भ की गयी।

सन् 1892 ई. के सुधारों से जनता बहुत अधिक सन्तुष्ट थी, अत: उसने पुन: सुधारों के लिए वैधानिक आन्दोलन चलाए। संवैधानिक आन्दोलनों की असफलता से विवश होकर लोगों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध स्वदेशी आन्दोलन चलाये। जब ब्रिटिश सरकार द्वारा उनका कठोरता से दमन किया गया, तो लोगों को विवश होकर क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने पड़े। अन्त में जब सन् 1909 ई. के चुनावों में इंग्लैण्ड में लिबरल पार्टी को राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो गई तो उसने भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिए एक बिल पास किया, जिसको मार्ले-मिण्टो सुधार या सन् 1909 ई. का एक्ट कहा जाता है।

सन् 1909 ई. के अधिनियम की मुख्य धाराएँ
(Main Provisions of the Act of 1909)

इस एक्ट की प्रमुख धाराएँ निम्नांकित हैं—

(1) विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि—सन् 1909 ई. के एक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल या वाइसराय की विधान परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 16 से बढ़कर 60 कर दी गई। मद्रास (चेन्नई), बंगाल और बम्बई (मुम्बई) की विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या 20 से बढ़ाकर 50 कर दी गई। उत्तर प्रदेश की विधान परिषद् के सदस्यों की संख्या 15 से बढ़ाकर 60 कर दी गई। पंजाब, असम तथा बर्मा (म्यांमार) की विधान परिषदों के सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या 30 कर दी गई। केन्द्रीय विधान परिषद् की संख्या सन् 1912 ई. में 69 कर दी गई थी। अन्य प्रान्तों की विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या में भी कुछ-कुछ परिवर्तन किया गया, सन् 1912 ई. में प्रान्तों की सीमाओं में भी कुछ परिवर्तन किया गया। इस एक्ट द्वारा निश्चित की हुई संख्या में कुछ परिवर्तन नए विनियमों द्वारा भी किया गया।

(2) केन्द्रीय विधान परिषदों में बहुमत—गवर्नर-जनरल की विधान परिषद् में चार प्रकार के सदस्य थे—पदेन सदस्य, मनोनीत सरकारी अधिकारी, नामजद गैर-सरकारी अधिकारी और चुने हुए सदस्य। गवर्नर-जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सभी सदस्य अपने पदों के कारण केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्य थे। उन्हीं को पदेन सदस्य कहा जाता था। इनके अतिरिक्त, जिन सरकारी अधिकारियों को भारत सरकार विधान परिषद् का सदस्य मनोनीत कर देती थी, वे सभी मनोनीत अधिकारी कहलाते थे। ऐसे व्यक्ति, जो सरकारी अधिकारी नहीं होते थे परन्तु जनता में अपना प्रभाव रखते थे, उनको भी सरकार मनोनीत कर देती थी। उनको मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य कहा जाता था। जो व्यक्ति निर्वाचित होते थे, उनको निर्वाचित सदस्य कहा जाता था। जो भी सदस्य चुने जाते थे, वे प्राय: चैम्बर ऑफ कॉमर्स, जिला बोर्ड, नगरपालिकाओं और बड़े-बड़े जमींदारों द्वारा ही निर्वाचित किए जाते थे।

केन्द्रीय विधान परिषद् में सरकारी बहुमत रखा गया, ताकि कानून बनाने में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित न हो। विधान परिषद् के 63 सदस्यों में से 37 सरकारी अधिकारी थे, 5 सदस्य मनोनीत और गैर-सरकारी अधिकारी और 27 चुने हुए सदस्य थे। जो भी सदस्य चुने जाते थे, उनमें से 5 मुसलमानों द्वारा 6 हिन्दू जमींदारों द्वारा, 1 मुस्लिम जमींदारों द्वारा, 1 बंगाल के चैम्बर ऑफ कॉमर्स द्वारा और 1 बम्बई के चैम्बर ऑफ कॉमर्स द्वारा चुना जाता था। शेष 13 सदस्य प्रान्तीय विधान परिषदों द्वारा चुने जाते थे। सदस्यों की अवधि तीन वर्ष रखी गई थी।

(3) प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत—सन् 1909 ई. के एक्ट में एक बड़ा भारी जो कदम आगे बढ़ाया गया, वह प्रान्तों में गैर-सरकारी बहुमत करना था परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं था कि वहाँ पर चुने हुए सदस्यों का बहुमत कर दिया गया था। सरकारी अधिकारी और सरकार द्वारा नामजद किए हुए गैर-सरकारी अधिकारी दोनों मिलकर

Scanned by CamScanner

चुने हुए सदस्यों से निश्चित रूप से अधिक हो जाते थे। इतना होने पर भी यदि किसी प्रकार की कोई कठिनाई कानून के पास कराने में होती थी, तो वह केन्द्रीय विधान परिषद् में आसानी से पास करवाया जा सकता था, क्योंकि उस समय भारत में एकात्मक सरकार थी। प्राय: प्रान्तीय सरकार को प्रान्तीय विधान परिषदों में अपनी इच्छा के अनुसार कानून बनवाने में कठिनाई नहीं होती थी, क्योंकि सरकार द्वारा नामजद सदस्य अधिकारियों का ही पक्ष लेते थे और चुने हुए सदस्य विभिन्न हितों के प्रतिनिधि होने के कारण आपस में आसानी से नहीं मिल सकते थे।

(4) साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का आरम्भ—मुसलमानों को अपने अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त यूनिवर्सिटियों, वाणिज्य संघ, जमींदारों, नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों इत्यादि को भी कुछ सदस्य चुनने का अधिकार दिया गया।

(5) विधान परिषदों के सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि—अभी तक सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं था,परन्तु इस अधिनियम के अनुसार उस सदस्य को पूरक प्रश्न भी पूछने का अधिकार दे दिया गया, जिसने पहले प्रश्न पूछा हो। इससे स्पष्ट है कि दूसरे व्यक्ति को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं दिया गया। विधान परिषद् के सदस्यों को बजट पर बहस करने और प्रस्ताव पेश करने का भी अधिकार दिया गया। जो ऋण स्थानीय सरकारों को दिए जाते थे, उनके सम्बन्ध में या अतिरिक्त अनुदानों तथा करों में परिवर्तन करने के भी प्रस्ताव रखे जा सकते थे। विधान परिषदों को सार्वजनिक महत्व के विषयों पर प्रस्ताव पास करने, उन पर बहस करने और मतदान करने का अधिकार था। ये सारे अधिकार कुछ विशेष नियमों के अनुसार ही प्रयोग किए जा सकते थे। विधान परिषद् का प्रधान सार्वजनिक हित का बहाना लेकर भी किसी प्रस्ताव की मनाही कर सकता था। सरकार इन प्रस्तावों से बँधी हुई नहीं थी अर्थात् यह सरकार की इच्छा पर निर्भर था कि इन प्रस्तावों को माने या न माने। इन सब रुकावटों का यह परिणाम निकला कि सदस्यों के पास सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने की कोई वास्तविक शक्ति नहीं रही। इसके अतिरिक्त बजट का काफी भाग ऐसा रखा जाता था, जिस पर सदस्य मतदान नहीं कर सकते थे और केवल बहस कर सकते थे। सरकार उस विषय में अपनी मनमानी कर सकती थी।

(6) कार्यकारिणी परिषदों के आकार में वृद्धि—इस एक्ट के अनुसार बम्बई और मद्रास की कार्यकारिणी परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर चार-चार कर दी गई। गवर्नर-जनरल सहित परिषद् को यह अधिकार दिया गया कि अन्य प्रान्तों के लिए भी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की स्वीकृति से कार्यकारिणी परिषद् बना सके। अब गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में लॉर्ड सिन्हा को कानून-सदस्य नियुक्त किया गया।

(7) सीमित तथा भेदभाव पर आधारित मताधिकार—सन् 1909 ई. के एक्ट के अनुसार जो मताधिकार दिया गया, वह अत्यन्त सीमित था। वह अनेक प्रकार के भेदभावों पर आधारित था और प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न था। उदाहरणस्वरूप केन्द्रीय विधान परिषद् के चुनाव के लिए जमींदारों के चुनाव क्षेत्रों में केवल उन जमींदारों को मत देने का अधिकार था जिनकी बहुत अधिक आमदनी थी। मद्रास में यह अधिकार उनको दिया गया जिनकी आमदनी 15,000 रुपए वार्षिक थी या जो 10,000 रुपया वार्षिक भूमि-कर देते थे। बंगाल में यह अधिकार उनको दिया गया, जिनके पास राजा या नवाब की उपाधि थी। मध्य प्रान्त में यह अधिकार उनको दिया गया जो ऑनरेरी मजिस्ट्रेट थे।

इसी प्रकार से मुसलमानों में भी मताधिकार की योग्यताएँ प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न थीं। इतना ही नहीं बल्कि मुस्लिमों और गैर-मुस्लिमों में मताधिकार की योग्यताएँ बहुत भिन्न थीं। प्रत्येक मुसलमान को जो तीन हजार रुपए वार्षिक आमदनी पर आय-कर देता था, भूमि-कर देता था, मत देने का अधिकार था, परन्तु एक पारसी, हिन्दू या ईसाई को मत देने का अधिकार नहीं, था चाहे वह तीन लाख रुपए आमदनी पर भी कर देता हो। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ऐसे मुसलमान स्नातक को वोट देने का अधिकार था, जिसे बी. ए. पास किए हुए पाँच वर्ष हो जाते थे, परन्तु यही अधिकार एक पारसी, हिन्दू या ईसाई को नहीं था, चाहे उसे बीस वर्ष बी. ए. पास किए हुए हो गए हों। इसकी कड़ी आलोचना पण्डित मदनमोहन मालवीय ने सन् 1909 ई. के इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए की। इसके अतिरिक्त, सरकार राजनीतिक आन्दोलन करने वालों को चुनाव लड़ने से मना कर सकती थी।

एक्ट 1909 अथवा मार्ले-मिण्टो सुधारों की आलोचना
(Criticism of Act of 1909 of Morley-Minto Reforms)

(1) गोखले के द्वारा आलोचना—सन् 1909 ई. के सुधार इसलिए किए गए थे, ताकि कांग्रेस के उदारवादियों (नरम दल) को ब्रिटिश सरकार के साथ लिया जा सके और उग्रवादियों तथा क्रान्तिकारियों को सख्ती से दबाया जा सके। अत: भारतीयों को आपस में बाँटने का यत्न किया गया था। शुरू में **गोखले** इन सुधारों से बहुत सन्तुष्ट थे और उन्होंने कहा कि,

Scanned by CamScanner

"इन सुधारों ने नौकरशाही के स्वरूप को बिल्कुल बदल दिया है और चुने हुए सदस्यों को कार्यपालिका पर प्रभाव डालने का भी अवसर दिया।" एक वर्ष के बाद ही उदारवादियों को बहुत निराशा हुई और कांग्रेस ने सन् 1909 ई. में इन सुधारों द्वारा जारी की हुई साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली की घोर निन्दा की। सन् 1909 ई. में गोखले ने कहा कि सुधारों में जो भी अच्छी बातें थीं, वे सब अनेक सरकारी नियमों और विनियमों द्वारा नष्ट कर दी गई हैं। इन्हीं कारणों से **सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी** ने कहा कि, "क्या नौकरशाही हमसे बदला ले रही है, क्योंकि हमने इन सुधारों के लागू करवाने में कुछ भाग लिया।"

(2) इसके द्वारा भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना नहीं की गई—भारत सचिव लॉर्ड मार्ले का उद्देश्य भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना नहीं था। दिसम्बर, सन् 1908 ई. में उन्होंने हाउस ऑफ लॉर्ड्स में भाषण देते हुए स्पष्ट कहा था कि, "यदि सुधारों के विषय में यह कहा जाए कि इनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत में संसदीय सरकार की स्थापना होती है, तब मुझे ऐसे कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।" इससे भारतीयों को बहुत निराशा हुई। **डॉ. जकरिया** ने ठीक ही लिखा है कि, "इन सुधारों द्वारा जो चीज भारतीयों को दी गई, वह बिल्कुल अर्थशून्य थी।" **रॉबर्ट्स** ने इनका वर्णन करते हुए कहा है कि सुधार भारतीयों के लिए अधूरे भवन के समान थे। **मजूमदार** ने इन सुधारों की आलोचना करते हुए कहा था कि, "ये केवल चन्द्रमा की चमक की भाँति थे।" इसलिए ये सुधार भारत की राजनीतिक समस्या का हल नहीं थे।

(3) इसमें साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली जारी की गई—इन चुनावों में मुसलमानों को विधान परिषदों में अलग प्रतिनिधित्व दिया गया। सरकारी नौकरियों में भी बाद में मुसलमानों के लिए स्थान सुरक्षित किए जाने लगे। मुसलमान मतदाता केवल मुस्लिम उम्मीदवार को ही वोट दे सकते थे। इससे मुसलमानों में हिन्दुओं से अलग होने की भावना बढ़ी क्योंकि चुनाव में सफल होने के लिए उन्हें हिन्दुओं के मत की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इस तरह से जो उम्मीदवार चुने जाते थे, वे राष्ट्रीय विचारों के कदापि नहीं हो सकते थे, उनसे यह आशा की जाती थी कि वे सब तरह से अपने सम्प्रदाय के हितों की रक्षा करेंगे। उनको दूसरे सम्प्रदायों के हितों की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। बाद में यह अलग प्रतिनिधि भेजने का अधिकार सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार सिक्खों, हरिजनों, ऐंग्लो-इण्डियनों, यूरोपियनों और ईसाइयों को भी दे दिया गया था।

(4) कांग्रेस द्वारा साम्प्रदायिक पद्धति की आलोचना—इस पद्धति की कड़ी आलोचना कांग्रेस के प्रस्ताव में की गई जिसमें यह कहा गया कि, "यह कांग्रेस जबकि कृतज्ञतापूर्ण ढंग से मार्ले-मिण्टो द्वारा कठोर परिश्रम और बिना कपट के लिए किए गए प्रयत्नों और सन् 1909 ई. में भारत को उदार संवैधानिक सुधारों को देने के कारण उनकी सराहना करती है, पृथक् निर्वाचकगण या साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली को जारी करने की घोर अस्वीकृति (नापसन्दगी) प्रकट करती है। कांग्रेस के प्रस्ताव में गैर-मुसलमानों तथा मुसलमानों में निर्वाचकगण, मताधिकार और उम्मीदवार की अर्हताओं के बारे में सन् 1909 ई. के अधिनियम के द्वारा किए गए अन्तर की तीव्र आलोचना की गई।

जवाहर लाल नेहरू ने बाद में साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति की इन शब्दों में आलोचना की, "मुसलमानों के चारों ओर एक राजनीतिक अवरोध उनको शेष भारत से अलग करने के लिए कर दिया गया और एकीकरण तथा सम्मिश्रण की गति को उलट दिया जो शताब्दियों से चल रही थी। यह राजनीतिक अवरोध पहले-पहल छोटा था क्योंकि निर्वाचकगण थोड़ी संख्या में थे परन्तु बाद में प्रत्येक मताधिकार के साथ-साथ सारे सामाजिक और सार्वजनिक जीवन का ढाँचा उसी तरह प्रभावित हो गया जिस तरह कि मुँह का नासूर (फोड़ा) सारे शरीर को खराब कर देता है।"

पण्डित मदन मोहन मालवीय ने लाहौर में कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में साम्प्रदायिक चुनाव-प्रणाली की इन शब्दों में निन्दा की, "यह ऐसा केस है जिसमें प्रतीत होता है कि अल्पमत द्वारा बहुमत को एक कोने में धकेल दिया गया। इसमें सबसे बड़ी बुराई यह है कि इस लाभ को केवल मुसलमानों तक सीमित कर दिया गया है जिनका कि अंग्रेजों द्वारा पक्षपात किया जा रहा है। इसी प्रकार का कोई संरक्षण हिन्दू अल्पसंख्यक वर्गों को पंजाब, पूर्वी बंगाल तथा असम में नहीं दिया गया है। इन दो प्रान्तों में हिन्दू अल्पसंख्यक वर्गों को बिना किसी संरक्षण के छोड़ दिया गया है।"

(5) इसके द्वारा अप्रत्यक्ष-चुनाव प्रारम्भ किया गया—इसमें जनता को केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों के लिए प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं दिया गया और इस तरह से जनता को राजसत्ता से वंचित रखा गया। इस एक्ट के अनुसार बालिग (वयस्क) को मत देने का अधिकार नहीं था, बल्कि मत देने का अधिकार बहुत ही थोड़े लोगों को दिया गया। जिन लोगों को केन्द्रीय विधान परिषद् के लिए मताधिकार था, उनकी संख्या भी 650 से अधिक नहीं थी। प्रान्तीय विधान परिषदों के लिए 200 से अधिक मतदाताओं को वोट देने का अधिकार नहीं था, इसका कारण यह था कि प्रान्तीय

Scanned by CamScanner

विधान परिषदों में नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों के सदस्यों को मत देने का अधिकार था और साधारण जनता को नहीं था। इसी तरह से केन्द्रीय विधान परिषद् में मत देने का अधिकार केवल प्रान्तीय विधान परिषद् के सदस्यों को ही था। इसके अतिरिक्त, मतदाताओं की योग्यताएँ प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न थीं और मुसलमानों को जो मताधिकार की सुविधाएँ दी गई थीं, वे अन्य सम्प्रदायों को नहीं दी गई थीं।

(6) सरकारी अधिकारियों और मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यों का सरकार को समर्थन—केन्द्रीय विधान परिषद् में सरकारी अधिकारियों का बहुमत था, इसलिए सरकार आसानी से अपनी मनमानी कर सकती थी। प्रान्तीय विधान परिषदों में भी सरकारी अधिकारी और सरकार द्वारा नामजद किए हुए गैर-सरकारी सदस्यों को मिलाकर सरकार को बहुमत प्राप्त हो जाता था। इसलिए चुने हुए सदस्य कुछ भी न कर सकते थे। जो सदस्य इतने विभिन्न हितों के प्रतिनिधि होते थे, उनके लिए सरकार के विरुद्ध चलना कठिन था क्योंकि वे सरकार से मिलकर अपने-अपने सम्प्रदाय के हितों की रक्षा करने और उसके लिए अधिक-से-अधिक अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इसलिए **प्रिन्सीपल श्रीराम शर्मा** ने लिखा है कि, "यूरोपियन चुने हुए सदस्य सरकार के लिए इतने ही अच्छे थे जितने कि सरकारी अधिकारी। जमींदारों और मुसलमानों को ब्रिटिश साम्राज्य सेवा के कारण मताधिकार दिया गया था, इसलिए वे अधिक राजभक्ति दिखाकर अपने भविष्य को और अधिक उज्ज्वल बनाना चाहते थे।" सरकारी अधिकारियों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। इसलिए विधान परिषदें सरकार के हाथ की कठपुतली बन गईं।

(7) विधान परिषदों के सदस्यों की शक्तियाँ बहुत सीमित थीं—विधान परिषदों के सदस्यों की शक्तियाँ बहुत अधिक सीमित थीं। वे कार्यकारिणी परिषद् से प्रश्न पूछ सकते थे, परन्तु कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों के लिए अनिवार्य नहीं था कि वे उन प्रश्नों का उत्तर अवश्य ही दें। "सदस्यों को सार्वजनिक मामलों पर प्रस्ताव पास करने का अधिकार था, परन्तु उनके प्रस्ताव केवल सिफारिशें ही होती थीं। यह सरकार की इच्छा पर निर्भर था कि उनको माने या माने। विधान परिषदों के सदस्य बजट पर बहस कर सकते थे परन्तु केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार के एक रुपए पर भी उसका सीधा नियन्त्रण नहीं था। इसी तरह सरकार को बिल पास करवाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी क्योंकि सरकारी गुट सदा सरकार की सहायता के लिए तैयार रहता था।" जैसा कि **के. वी. पुन्याह** ने लिखा है कि, "चाहे गैर-सरकारी सदस्य कितने भी अच्छे तर्क अपनी बात की पुष्टि में दें परन्तु जिस समय बिल पर मतदान होता था, तो सरकारी गुट सामने आता था और बिल अपने पक्ष में पास करवा लेता था।" इसके अतिरिक्त, वाइसराय और गवर्नर को इन सब मामलों पर निषेधाधिकार (वीटो) की शक्तियाँ प्राप्त थीं।

(8) अनेक नियमों और विनियमों द्वारा सदस्यों के अधिकार और भी घटा दिए गए—गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों ने विधान परिषदों की कार्यवाहियों के नियम-विनियम इस तरह बनाए कि उनके द्वारा सदस्यों के अधिकार और अधिक सीमित हो गए। इन नियमों द्वारा अनेक उग्रवादी राष्ट्रीय नेताओं को चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य घोषित कर दिया गया। इसलिए इन सुधारों द्वारा विधान परिषदों को कोई प्रभावशाली शक्ति नहीं दी गई, अपितु उनको केवल सलाह देने वाली समितियाँ बनाया गया। इसी कारण से **कूपलैण्ड** ने लिखा है कि, "ये विधान परिषदें संसद न होकर दरबार थीं। उनके हाथ में मनमानी करने वाली सरकार को बदलने की कोई शक्ति नहीं थी।" इन सुधारों के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए **सर बार्टल फ्रेयर** ने कहा कि, "भारतीय सरकार अब भी पूर्ण रूप से एक निरंकुश राजसी दरबारी सरकार के समान बनी रही जो राजा की भाँति अपने दरबारियों से परामर्श लेती थी परन्तु उनके मत पर अनुसरण करने को विवश नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप दरबारी असन्तुष्ट और बेचैन होने लगे और शासन संकोचपूर्ण तथा ढीला हो गया।"

(9) भारतीयों को प्रभाव डालने का अधिकार दिया गया परन्तु उनको कोई शक्ति नहीं दी गई—सर एस. पी. सिन्हा ने जो कि महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् के पहले भारतीय कानून-सदस्य नियुक्त किए गए, एक मुलाकात में सन् 1917 ई. में कहा कि, "मार्ले-मिण्टो सुधार यद्यपि सन् 1892 ई. के पहले अधिनियम की अपेक्षा काफी आगे बढ़े हुए थे परन्तु उन्होंने भारतीयों को प्रभाव डालने का अधिकार तो दिया परन्तु कोई वास्तविक शक्ति प्रदान नहीं की। शक्ति प्रभाव से भिन्न है और हमें नीति को नियन्त्रित करने तथा लगाता, बढ़ाने के लिए शक्ति में निरन्तर वृद्धि की आवश्यकता है।" एक-दूसरे प्रसिद्ध भारतीय **श्री के. वी. रंगास्वामी आयंगर** ने सन् 1909 ई. के अधिनियम पर टिप्पणी करते हुए कहा कि, "विधान परिषदें जैसे कि वर्तमान दशा में हैं, कोई उपयोगी उद्देश्य सिद्ध नहीं करती हैं। इनसे केवल बाहरी सभ्य संसार को यह माया (भ्रान्ति या इन्द्रजाल) दिखानी है कि भारत पर प्रतिनिध्यात्मक विधान सभाओं के द्वारा शासन चलाया जा रहा है।"

Scanned by CamScanner

सन् 1919 ई. का एक्ट
(Act of 1919 A. D.)

सन् 1919 ई. के एक्ट के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ (Responsible Circumstances for 1919 Act)

सन् 1909 ई. के सुधारों से निराशा—मार्ले-मिण्टो सुधारों से देश में बड़ी निराशा फैली, क्योंकि इसके द्वारा भारतीयों को कोई वास्तविक अधिकार नहीं दिए गए थे। केन्द्रीय विधान परिषद् में सरकारी अधिकारियों का बहुमत रखा गया था और प्रान्तों की विधान परिषदों में चाहे सरकारी अधिकारियों का बहुमत नहीं रखा गया था, परन्तु चुने हुए सदस्य अभी भी थोड़ी संख्या में थे। प्रान्तों की विधान परिषदों में सरकारी अधिकारी और नामजद गैर-सरकारी अधिकारी दोनों मिलकर चुने हुए सदस्यों से अधिक हो जाते थे। चुनाव की साम्प्रदायिक प्रणाली के कारण चुने हुए सदस्य भी सरकार का बहुत कम विरोध करते थे। इसलिए विधान परिषदों के हाथ में सरकार के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं आया था, वे केवल बहस करने वाली सोसाइटियाँ बन गई थीं। **डॉ. जकरिया** ने ठीक ही कहा है कि, "जहाँ इन सुधारों ने लोकतन्त्र का चुनाव-सिद्धान्त स्वीकार कर लिया, वहाँ लोकतन्त्र विरोधी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व भी इसमें जोड़ दिया गया। यद्यपि सरकारी बहुमत प्रान्तों में हटा दिया गया परन्तु चुने हुए सदस्यों की संख्या थोड़ी ही रखी गई। विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या काफी बढ़ा दी गई परन्तु उसी के कारण जोरदार शब्दों में घोषित कर दिया गया कि इनका संसदीय प्रणाली से कोई सम्बन्ध नहीं। इण्डिया कौन्सिल और वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् इने-गिने भारतीयों के लिए अवश्य खोल दी गई, परन्तु सरकार इस बात को न छिपा सकी कि वास्तविक शासन-शक्ति भी सुरक्षित रूप से अंग्रेजों के ही हाथ में है।" यही कारण था कि न केवल क्रान्तिकारियों और उग्रवादियों, अपितु उदारवादियों की भी इन सुधारों से कोई सन्तुष्टि नहीं थी। उदारवादियों ने विधान परिषदों में साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली के रद्द कराने की माँग की।

सरकार की दोहरी नीति—यद्यपि उदारवादी सन् 1909 ई. के सुधारों की त्रुटियों से अच्छी तरह परिचित थे, तथापि वे सरकार को पूर्ण सहयोग देने के पक्ष में थे। तिलक को माण्डले भेज दिया गया था। श्री अरविन्द घोष राजनीति से अलग हो गए थे और पाण्डिचेरी में तपस्या तथा योग-अभ्यास करने लगे थे। सन् 1909 ई. में भारतीय प्रेस अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार पत्रों की स्वतन्त्रता को कुचल दिया गया। सन् 1911 ई. में राजद्रोह सभा अधिनियम पास किया गया, जिसके अनुसार सरकार के विरुद्ध सभाएँ करने पर कड़ा दण्ड दिया जाता था। सन् 1913 ई. में राष्ट्रवादियों को दबाने के लिए फौजदारी संशोधन अधिनियम पास किया गया। भारतीय विधान परिषदों के चुने हुए सदस्यों के घोर विरोध के बावजूद ये सब बिल पास करके कानून बना दिए गए। इस तरह से सरकार ने क्रान्तिकारियों और उग्र राष्ट्रवादियों को दबाने के लिए पूरा प्रयत्न किया। इसके विरुद्ध ब्रिटिश सरकार उदारवादियों को अपने साथ मिलाने का पूरा प्रयत्न कर रही थी। लॉर्ड हार्डिंग ने उदारवादियों को अपने साथ मिलाने के लिए बंगाल का विभाजन रद्द करवाना आवश्यक समझा। इसलिए उसने भारत सचिव को लिखा कि बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया जाए और प्रान्तों को अधिक अधिकार दे दिए जाएँ। कांग्रेस ने इन सुझावों का स्वागत किया।

सन् 1911 ई. का दिल्ली दरबार—सन् 1911 ई. में लॉर्ड हार्डिंग ने सम्राट् जॉर्ज पंचम् तथा महारानी मेरी को बुलाया और इस हेतु दिल्ली में एक बड़ा भारी दरबार लगाया। वहाँ पर ब्रिटिश सम्राट् ने यह घोषणा की कि, "बंगाल का विभाजन समाप्त करके इसको दुबारा एक किया जाता है। इसके बाद भारत की राजधानी कलकत्ता की बजाय दिल्ली होगी।" सारे भारत ने इस घोषणा का स्वागत किया।

लॉर्ड क्रिड की निराशाजनक घोषणा—सन् 1911 ई. में लॉर्ड हार्डिंग ने भारत सचिव लॉर्ड क्रिड को लिखा था कि प्रान्तों को अधिक अधिकार दे दिए जाएँ; उसका बहुत-से कांग्रेसी नेताओं ने यह अर्थ निकाल लिया था कि प्रान्तों को स्वराज्य दे दिया जाएगा और कार्यकारिणी परिषदों को विधान परिषदों के अधीन कर दिया जाएगा। ब्रिटिश सरकार का ऐसा कोई इरादा नहीं था। इसलिए कांग्रेसी नेताओं की झूठी आशाओं को तोड़ने के लिए भारत सचिव **लॉर्ड क्रिड** ने सन् 1912 ई. में हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बोलते हुए घोषणा की कि, "भारत में एक ऐसा वर्ग है जो यह सोचता है कि भारत में संवैधानिक सुधार का अगला कदम ऐसे स्वशासन के लिए होगा जो कि अन्य उपनिवेशों को दिया गया है। मैं इस दिशा में भारत का कोई भविष्य नहीं देखता। भारत सचिव होने के नाते मेरे द्वारा इस गलत विचार का खण्डन करना आवश्यक है।" इससे भारतीयों में सरकार के विरुद्ध बहुत निराशा फैली।

Scanned by CamScanner

माण्टेग्यू की घोषणा
(Montagu's Declaration)

ऊपर लिखी हुई सब परिस्थितियों ने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वह भारतीयों को कुछ नए अधिकार दे। इसलिए **माण्टेग्यू** ने 20 अगस्त, सन् 1917 ई. को एक घोषणा की जिसमें कहा गया कि, "ब्रिटिश सरकार की नीति जिससे भारत सरकार पूर्ण रूप से सहमत है, यह है कि भारतवासियों को शासन के प्रत्येक विभाग में अधिक-से-अधिक भाग दिया जाए और ऐसी संस्थाओं को उत्साहित किया जाए जो स्वशासन के कार्यों में लगी हुई हैं, जिससे भारत में धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन की नींव रखी जा सके और वह ब्रिटिश सरकार के अन्दर रहकर स्वतन्त्र रूप से काम कर सके।" इस घोषणा

Scanned by CamScanner

से भारत के किसी राजनीतिक दल को सन्तुष्टि नहीं हुई क्योंकि इसमें भारत की उन्नति करना और उसको स्वराज्य देना ब्रिटिश संसद के हाथ में रखा गया था। बाद में इसी के आधार पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने सन् 1919 ई. का अधिनियम पास किया।

भारत सरकार का सन् 1919 ई. का अधिनियम
(Government of India Act, 1919 A. D.)

सन् 1909 ई. के सुधारों से भारतीय असन्तुष्ट थे, क्योंकि इनके अनुसार सारा नियन्त्रण सरकार ने अपने पास रखा था और विधान परिषद् को केवल वाद-विवाद करने वाला क्लब बना दिया था। इतना ही नहीं, बल्कि उन सुधारों के अनुसार साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली जारी की गई थी, जिससे मुसलमान राष्ट्रीय जीवन से अलग होने लगे और साम्प्रदायिक समस्या विकट होने लगी।

जब सन् 1917 ई. में पहला महायुद्ध छिड़ा तो भारतीयों ने सरकार की हर तरह से सहायता की क्योंकि इसने घोषणा की थी कि यह लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए लड़ रही है। भारतीयों ने यह भी अधिकार अपने लिए माँगा, परन्तु ब्रिटिश सरकार चुप रही। अतः भारतीयों ने तिलक और मिसेज ऐनी बेसेण्ट के नेतृत्व में होमरूल आन्दोलन चलाए। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने अपने आपसी मतभेदों को दूर करके ब्रिटिश सरकार के सामने सुधारों की एक योजना रखी, जिसे कांग्रेस लीग योजना कहा जाता है। अन्त में परिस्थिति से विवश होकर ब्रिटिश सरकार को एक घोषणा करनी पड़ी। यह घोषणा ब्रिटिश सरकार की तरफ से भारत सचिव माण्टेग्यू ने की। इस घोषणा में माण्टेग्यू ने कहा कि ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य भारत में अन्त में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना और भारतीयों को शासन में अधिक भाग देना है, परन्तु यह केवल धीरे-धीरे ही हो सकता है। इसी घोषणा के आधार पर बाद में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने एक एक्ट पास किया, जिसे भारत सरकार का सन् 1919 ई. का अधिनियम कहा जाता है। इस अधिनियम की निम्नलिखित मुख्य बातें हैं—

सन् 1919 ई. के अधिनियम की मुख्य धाराएँ
(Main Provisions of Act of 1919 A. D.)

बुनियादी सिद्धान्त तथा प्रस्तावना—माण्टेग्यू की घोषणा के बाद 8 जुलाई, सन् 1918 ई. को माण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार प्रकाशित किए गए। इनको भारत सचिव श्री माण्टेग्यू और लॉर्ड चैम्सफोर्ड (भारत के वाइसराय) ने अनेक भारतीय नेताओं से मिलकर तैयार किया था। (इसी को माण्टेग्यू सुधार योजना भी कहा जाता है।) अधिनियम में एक प्रस्तावना दी गई जिसमें एक्ट के सिद्धान्त तथा उद्देश्य दिए गए। प्रस्तावना में कहा गया कि जहाँ तक भी हो सकेगा, स्थानीय संस्थाओं पर जनता का नियन्त्रण होगा और ऊपर के सरकारी अधिकारियों को कम-से-कम नियन्त्रण होगा अर्थात् अधिक-से-अधिक स्थानीय स्वराज्य लोगों को दिया जाएगा। दूसरे, प्रान्तों में थोड़ी-सी उत्तरदायी सरकार स्थापित की जाएगी और प्रान्तों को पहले की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी जाएगी। तीसरे, भारत सरकार की ब्रिटिश संसद की ओर जिम्मेदारी ज्यों की त्यों बनी रहेगी परन्तु केन्द्रीय विधान परिषद् का विस्तार किया जाएगा, ताकि वह भारत सरकार को पहले से अधिक प्रभावित कर सके। चौथे, भारत सचिव का भारत सरकार पर नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया जाएगा। पाँचवें, सिक्ख, ईसाई, आंग्ल भारतीयों को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व दिया गया।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर यह अधिनियम बनाया गया परन्तु इसके द्वारा न तो भारत सचिव की शक्तियों में कोई विशेष अन्तर आया और न ही भारत सरकार की। भारत सरकार पहले की तरह भारतीय जनता की तरफ गैर-जिम्मेदार (अनुत्तरदायी) रही। विस्तार में इसकी मुख्य बातें नीचे दी जा रही हैं—

गृह सरकार
(Home Government)

सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार भारत सचिव का गवर्नर-जनरल पर नियन्त्रण—भारत सचिव ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के एजेण्ट के रूप में कार्य करता था। उसको भारत सरकार तथा भारतीय राजस्व से सम्बन्धित सभी मामलों की देखभाल का अधिकार था। वह इस हेतु भारत सरकार का कोई भी आदेश दे सकता था। सन् 1919 ई. के एक्ट में यह विशेष रूप से कहा गया कि भारत का गवर्नर-जनरल तथा उसके द्वारा गवर्नर अपने शासन सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण मामलों के बारे में भारत सचिव को सूचित रखेंगे और उसके आदेशों तथा निर्देशों का पालन करेंगे। भारत सचिव का भारत के शासन पर काफी अधिकार था। कोई भी महत्वपूर्ण नियुक्ति गवर्नर-जनरल उसकी स्वीकृति के बिना नहीं कर सकता था। भारत सचिव को किसी भी अधिकारी को पद से हटाने का अधिकार था। उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी महत्वपूर्ण पद समाप्त नहीं किया जा सकता था।

Scanned by CamScanner

महाराज्यपाल (गवर्नर-जनरल) तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद्
(Government General and his Executive Council)

केन्द्र में सहानुभूतिसूचक तानाशाही (निरंकुश शासन)—सन् 1919 ई. के अधिनियम के द्वारा भारत सरकार की कार्यकारिणी की रचना और शक्तियों में कुछ मौलिक परिवर्तन नहीं हुए। कार्यकारिणी शक्तियाँ पहले की तरह ही गवर्नर-जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् के पास ही रहीं। गवर्नर-जनरल पर जनता के प्रतिनिधियों का कोई नियन्त्रण स्थापित नहीं किया था। गवर्नर-जनरल की शक्तियों में इस अधिनियम (एक्ट) द्वारा कोई अन्तर नहीं आया और उसकी शक्तियाँ पहले की भाँति ही असीमित, निरंकुश और अनुत्तरदायी रहीं। पहले की भाँति ही भारत के सैनिक और गैर-सरकारी मामलों की देखभाल, नियन्त्रण और निर्देश देने की शक्तियाँ गवर्नर-जनरल के पास ही रहीं। यद्यपि वह इन शक्तियों का प्रयोग अपनी कार्यकारिणी परिषद् से मिलकर करता था, परन्तु अपनी कार्यकारिणी परिषद् पर गवर्नर-जनरल का विशेष प्रभाव था। इसका कारण यह था कि गवर्नर-जनरल अपनी कार्यकारिणी परिषद् का प्रधान था। उसकी सिफारिशों पर कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की भारत सचिव द्वारा नियुक्ति होती थी। कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य अपनी उन्नति के लिए गवर्नर-जनरल की सिफारिशों पर निर्भर रहते थे। कार्यकारिणी परिषद् के किसी भी सदस्य को उसकी सिफारिशों के बिना गवर्नर के पद तक उन्नत नहीं किया जाता था। गवर्नर-जनरल ही अपनी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों में विभाग बाँटता था और वह ही सारे कार्य चलाने के लिए नियम बनाता था। वह चाहे जहाँ कार्यकारिणी परिषद् की बैठक बुला सकता था। गवर्नर-जनरल के इतने प्रभाव का कारण यह भी था कि वह भारत में ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि था और भारत के शासन के सम्बन्ध में उसकी सारी जिम्मेदारी थी। इस हेतु उसका भारत सचिव से सीधा सम्पर्क था। गवर्नर-जनरल को यह भी शक्ति प्राप्त थी कि वह अपनी कार्यकारिणी परिषद् की सलाह की अवहेलना कर सकता था यदि उसके विचार में सलाह खतरनाक या गलत थी अथवा भारत में शान्ति कायम रखने के लिए इस सलाह की उपेक्षा करना आवश्यक था।

गवर्नर-जनरल को 2,56,000 रुपए वार्षिक वेतन और 1,72,700 रुपए का भत्ता मिलता था। इसके अतिरिक्त, उसे रहने के लिए एक शानदार महल मिलता था।

सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार गवर्नर-जनरल का विदेश विभाग तथा राजनीतिक विभाग पर सीधा नियन्त्रण था। राजनीतिक विभाग द्वारा गवर्नर-जनरल देशी रियासतों पर अपना पूरा नियन्त्रण रखता था। जब गवर्नर-जनरल देशी रियासतों के साथ काम चलाता था, तो वह वायसराय कहलाता था। वायसराय अपना प्रतिनिधि प्रत्येक देशी रियासत में रखता था, उसको रजीडेण्ट कहा जाता था। रेजीडेण्ट उस रियासत की सारी सूचनाएँ वायसराय के राजनीतिक विभाग को पहुँचाता रहता था।

केन्द्रीय विधानमण्डल
(Central Legislature)

केन्द्र में पहली बार दो सदन कर दिए गए। पहले सदन को विधानसभा और दूसरे सदन को राज्यसभा कहा जाता था। पहले सदन में सदस्यों की कुल संख्या 145 थी और दूसरे सदन में 60, इस तरह दोनों सदनों के सदस्यों की कुल संख्या मिलाकर 205 थी।

केन्द्रीय विधानसभा की रचना—विधानसभा के 145 सदस्यों में से 41 नामजद सदस्य थे और 104 चुने हुए सदस्य थे। जो चुने हुए सदस्य थे, वे विभिन्न सम्प्रदायों, हितों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें से 52 सामान्य, 30 मुसलमान, 2 सिक्ख, 9 यूरोपियन, 7 जमींदार और 4 भारतीय वाणिज्य के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। जो सदस्य मनोनीत (नामजद) थे, उनमें से 26 सरकारी अधिनियम और 15 गैर-सरकारी अधिकारी थे।

केन्द्रीय विधानसभा का कार्यकाल—इस एक्ट के अनुसार केन्द्रीय विधानसभा का कार्यकाल 3 वर्ष रखा गया। केन्द्रीय विधानसभा का सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार अप्रत्यक्ष चुनाव कर दिया गया।

केन्द्रीय विधानसभा का चुनाव—प्रान्तों में जो स्थानों का विभाजन किया गया, वह किसी विशेष नियम या आबादी के अनुसार नहीं था, बल्कि उनके महत्व के अनुसार किया गया। उदाहरणस्वरूप यद्यपि पंजाब की आबादी बिहार और उड़ीसा की आबादी से काफी कम थी, तथापि पंजाब को उनसे अधिक स्थान दे दिए गए क्योंकि पंजाब का अंग्रेजों की दृष्टि में सैनिक महत्व था। केन्द्रीय विधानसभा में मुसलमानों, यूरोपियनों और सिक्खों के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त अपनाया गया। जमींदारों और भारतीय वाणिज्य के हितों की सुरक्षा के लिए विशेष चुनाव क्षेत्र स्थापित किए गए। आंग्ल भारतीय समुदाय, भारतीय ईसाइयों और श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए कुछ व्यक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत

Scanned by CamScanner

किए गए। उन लोगों को केवल चुनाव में वोट देने का अधिकार दिया गया जो सरकार को आयकर, भूमिकर या अन्य कुछ विशेष टैक्स अथवा किराया आदि देते थे। अत: मताधिकार का मुख्य आधार सम्पत्ति था। मतदाताओं के लिए ये योग्यताएँ भी सारे देश में एक जैसी नहीं रखी गईं, बल्कि विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग थीं।

केन्द्रीय विधानसभा के पदाधिकारी—विधानसभा का पहला सभापति चार वर्ष के लिए गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किया गया। इसके बाद विधानसभा को अपना सभापति चुनने का अधिकार दिया गया, परन्तु इसके लिए गवर्नर-जनरल की अन्तिम स्वीकृति लेनी पड़ती थी। यद्यपि केन्द्रीय विधानसभा की अवधि या कार्यकाल तीन वर्ष था, परन्तु आवश्यकता के अनुसार इसे गवर्नर-जनरल घटा और बढ़ा भी सकता था।

केन्द्रीय विधानसभा की कानूनी शक्तियाँ—केन्द्रीय विधानसभा को यह अधिकार था कि वह केन्द्रीय सूची में बयान किए हुए सभी विषयों पर ब्रिटिश भारत की जनता के लिए कानून बना सके। गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति से यह प्रान्तों के लिए भी कानून बना सकती थी। यह सन् 1919 ई. के अधिनियम में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी। यह कोई ऐसा कानून पास नहीं कर सकती थी, जो ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के किसी कानून के विरुद्ध हो। इसे भारतीयों के लिए किसी संविधान के बनाने का अधिकार नहीं था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इसके पास प्रभुसत्ता नहीं थी।

यह भारत की सचिव की किसी शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी।

केन्द्रीय विधानसभा की वित्तीय शक्तियाँ—वैधानिक शक्तियों के अतिरिक्त कुछ वित्तीय शक्तियाँ भी केन्द्रीय विधानसभा को दी गईं। बजट सबसे पहले केवल विधानसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता था। इसके बाद यह राज्यसभा के पास भेजा जाता था। बजट को दो भागों में बाँट दिया जाता था। पहले भाग में निम्नलिखित खर्चे शामिल किए जाते थे—(1) ऋण का ब्याज अथवा डूबती हुई रकमों पर कोई कर; (2) ब्रिटिश सम्राट् अथवा भारत सचिव द्वारा या उसकी स्वीकृति से नियुक्त किए हुए व्यक्तियों के वेतन तथा पेन्शनें; (3) सेना, राजनीतिक विभाग तथा ईसाई धर्म पर खर्च होने वाली रकमें; (4) मुख्य आयुक्तों के वेतन।

बजट के पहले भाग पर केन्द्रीय विधानसभा बहस तो कर सकती थी, परन्तु मतदान नहीं कर सकती थी। इस तरह से लगभग 85 प्रतिशत बजट पर केन्द्रीय विधानसभा का कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था।

बजट के दूसरे भाग में 15 प्रतिशत खर्चे होते थे। इसके बारे में विधानसभा इन्कार कर सकती थी या कोई कटौती कर सकती थी, परन्तु यह किसी रकम (राशि) को बढ़ा नहीं सकती थी।

केन्द्रीय विधानसभा का कार्यकारिणी परिषद् पर नियन्त्रण—केन्द्रीय विधानसभा का गवर्नर-जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् पर बहुत थोड़ा नियन्त्रण था क्योंकि कार्यकारिणी परिषद् इसकी तरफ उत्तरदायी नहीं थी। केन्द्रीय विधानसभा गवर्नर-जनरल या उसकी कार्यकारिणी परिषद् के किसी सदस्य को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा सकती थी। यह उनसे प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकती थी परन्तु विधानसभा सरकार के विरुद्ध अत्यन्त आवश्यक सार्वजनिक मामलों पर काम रोको प्रस्ताव पास कर सकती थी। यह सरकार के पास जनता के हित में कोई अन्य सुझाव या प्रस्ताव भेज सकती थी। केन्द्रीय विधानसभा तथा सरकार के विरुद्ध निन्दा या आलोचना की जा सकती थी परन्तु सरकार को यह किसी कार्य करने के लिए मजबूर नहीं कर सकती थी। गवर्नर-जनरल की इच्छा पर यह निर्भर था कि वह इसकी किसी सिफारिश या प्रस्ताव को माने या न माने।

उसके बाद हम राज्यसभा का कुछ हाल बताते हैं—

राज्यसभा की रचना तथा अवधि—विधानसभा और राज्यसभा दोनों गवर्नर-जनरल सहित केन्द्रीय विधान मण्डल कहलाते थे। विधानसभा निचला सदन था और राज्यसभा ऊपर का सदन था। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि विधानसभा पहला सदन था और राज्य सभा दूसरा सदन था। राज्य में कुल 60 सदस्य थे। उनमें से 33 चुने हुए सदस्य थे और 27 नामजद सदस्य थे। इन 27 नामजद सदस्यों में से 17 सरकारी अधिकारी थे और 10 गैर-सरकारी अधिकारी थे। चुने गए 33 सदस्य विभिन्न सम्प्रदायों और हितों में बँटे हुए थे।

राज्यसभा का चुनाव—राज्य-सभा का कार्य निचले सदन (विधानसभा) द्वारा पास किए बिलों पर पुन: विचार करना था, इसलिए इसको रूढ़वादी सदन बनाया गया था। इसमें बड़े-बड़े पूँजीवादी, जमींदार और व्यापारियों के प्रतिनिधि बैठते थे। इसके चुनावों में मत देने का अधिकार बहुत थोड़े मतदाताओं के पास था। सारे भारत में कुल मिलाकर इसके लिए 17,000 मतदाता थे।

Scanned by CamScanner

इसके चुनावों के लिए मतदाताओं की योग्यताएँ प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न थीं। उदाहरणस्वरूप, मद्रास में केवल उन लोगों को वोट देने का अधिकार था जिनको अपनी सम्पत्ति से कम-से-कम 3,000 रुपए का वार्षिक आमदनी थी या जो 1,300 रुपया भूमि कर देते थे अथवा 20,000 रुपए की वार्षिक आमदनी पर आयकर देते थे। इसके अतिरिक्त, जिन लोगों के पास कुछ अन्य योग्यताएँ भी थीं। उनको भी मत देने का अधिकार था। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी व्यक्ति को भारत की विधानसभा में काम करने का अनुभव था या वह किसी नगरपालिका अथवा स्थानीय बोर्ड का प्रधान या उप-प्रधान रहा हो या वह यूनिवर्सिटी के सीनेट का सदस्य हो या रहा हो अथवा उसके पास कोई साहित्यिक उपाधि हो तो भी उसको मत देने का अधिकार मिल जाता था। राज्यसभा का सभापति गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किया जाता था।

राज्यसभा की शक्तियाँ—राज्यसभा को केन्द्रीय विधानसभा के बराबर ही कानून बनाने के बारे में शक्तियाँ दी गईं। कोई भी बिल जब तक दोनों सदनों द्वारा पास नहीं हो जाता था, कानून नहीं बन सकता था। जहाँ तक बजट का सम्बन्ध है, यह राज्यसभा में भी उसी दिन रखा जाता था, जिस दिन विधानसभा में। अन्य धन विधेयक पहले विधानसभा में ही प्रस्तुत किए जाते थे और फिर राज्यसभा में। राज्यसभा माँगों पर अपना मत नहीं दे सकती थी, यह अधिकार तो केवल विधानसभा के पास ही था। जब विधानसभा किसी वित्तीय विधेयक को पारित कर देती थी, तो राज्यसभा या तो उसे सर्वथा अस्वीकार कर देती थी या कुछ संशोधनों के सुझाव दे सकती थी। यदि राज्यसभा किसी वित्तीय विधेयक या धन विधेयक को अस्वीकार कर देती थी या उसमें ऐसे संशोधन पेश करती थी जिससे विधानसभा सहमत न हो तो यह कानून केवल गवर्नर-जनरल व विशेष शक्तियों द्वारा ही बन सकता था। इसमें सन्देह नहीं कि वित्तीय मामलों में विधानसभा की अपेक्षा राज्यसभा की कुछ कम शक्तियाँ अवश्य थीं क्योंकि प्रत्येक माँग को पास करवाने के लिए उसके मत की आवश्यकता नहीं थी। वह तो केवल विधानसभा के कार्यों में कुछ रुकावट उत्पन्न कर सकती थी, जो गवर्नर-जनरल की विशेष शक्तियों द्वारा पास किए जा सकते थे।

विधानसभा की भाँति राज्यसभा को गवर्नर-जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् से प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार था। यह निन्दा प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव इत्यादि भी पास कर सकती थी।

दोनों सदनों में गतिरोध—अब प्रश्न यह उत्पन्न हो जाता है कि यदि दोनों सदनों में किसी बिल के बारे में गतिरोध उत्पन्न हो जाता था तो उसको हल कैसे किया जाता था ? जब एक सदन बिल को पास कर देता था तथा दूसरा सदन पास नहीं करता था और इस तरह बिल को आरम्भ हुए 6 महीने बीत जाते थे तो गवर्नर-जनरल दोनों सदनों की एक इकट्ठी बैठक बुला सकता था और उसमें बहुमत से बिल को पास या अस्वीकार किया जाता था।

चूँकि राज्य सभा की संख्या विधानसभा कम थी, इसलिए विधानसभा को अपनी बात मनवाने में आसानी रहती थी।

गवर्नर-जनरल की विशेष शक्तियाँ तथा केन्द्रीय सभा की दोषपूर्ण रचना
(Special Powers of Governor General and Defective Organisation of Central Legislature)

गवर्नर-जनरल का विधानसभा की तरफ उत्तरदायी न होना—केन्द्रीय विधानमण्डल को भारत की पार्लियामेण्ट नहीं बनाया गया था। इसका ढाँचा अत्यन्त दोषपूर्ण था और इसकी शक्तियाँ अत्यन्त सीमित थीं। गवर्नर-जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् केन्द्रीय विधान मण्डल की तरफ जिम्मेदार नहीं थी। विधानसभा गवर्नर-जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् के किसी सदस्य को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा सकती थी। इसके पास केवल कुछ अन्य प्रकार के सार्वजनिक मामलों पर प्रस्ताव पास करने का अधिकार था। इन सब प्रस्तावों का मानना या न मानना गवर्नर-जनरल की इच्छा पर निर्भर था।

गवर्नर जनरल के कानूनी अधिकार—(1) वह किसी बिल अथवा इसकी किसी धारा पर विचार या संशोधन करने से केन्द्रीय विधानमण्डल को रोक सकता था, यदि उसके विचार में इससे भारत के किसी भाग की शान्ति अथवा सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होता हो। (2) गवर्नर-जनरल किसी प्रश्न या पूरक प्रश्न का उत्तर देने से इन्कार कर सकता था या इसको मना कर सकता था। वह दोनों सदनों के सामने भाषण दे सकता था या सदनों में सदनों की आवश्यक उपस्थिति के लिए नियम बना सकता था। (3) अनेक प्रकार के बिलों पर उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना विचार तक किसी भी सदन में नहीं किया जा सकता था। (4) प्रत्येक प्रान्तीय तथा केन्द्रीय बिल तभी कानून बन सकता था जबकि उसकी अनुमति या मंजूरी मिल जाए। वह किसी प्रस्ताव पर बहस को रोक सकता था। वह किसी भी काम रोको प्रस्ताव की मनाही कर सकता था। (5) गवर्नर-जनरल किसी भी बिल को ब्रिटिश सम्राट् की अनुमति के लिए आरक्षित कर सकता था। यदि सरकार किसी बिल को सदन में पास करवाना चाहती थी और दोनों सदन उसे स्वीकृति कर दें तो गवर्नर-जनरल उस बिल को अपनी विशेष शक्ति द्वारा कानून में तब्दील कर सकता था। सन् 1923 ई. में भारतीय राजाओं की रक्षा का अधिनियम और सन् 1925 ई. में वित्तीय विधेयक इसी

Scanned by CamScanner

तरह कानून बनाए गए। (6) दोनों सदनों के इन्कार करने पर भी जो बिल इस प्रकार बनाए जाते थे, उनको रद्द करने की शक्ति केवल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट तथा ब्रिटिश सम्राट् सहित मन्त्रिमण्डल को थी। इससे स्पष्ट है कि केन्द्रीय विधानमण्डल का गवर्नर-जनरल पर कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था। गवर्नर-जनरल कानून के क्षेत्र में अपनी मनमानी कर सकता था। वह विधानसभा की तरफ उत्तरदायी नहीं था।

अध्यादेश जारी करने की शक्ति—जब केन्द्रीय मण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो और उस समय यदि कोई संकटकालीन स्थिति गवर्नर-जनरल के सामने आ जाती थी तो उसका सामना करने के लिए वह विशेष आदेश जारी कर सकता था जो छः महीने के लिए पहले पहल जारी किए जा सकते थे परन्तु बाद में छः महीने और अधिक आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाए जा सकते थे। इन विशेष आदेशों को अध्यादेश कहा जाता था।

गवर्नर-जनरल की वित्तीय शक्तियाँ—गवर्नर-जनरल को कानूनी शक्तियाँ तो प्राप्त थी हीं, उसे वित्तीय शक्तियाँ भी काफी प्राप्त थीं। बजट के बनाने पर गवर्नर-जनरल का पूरा नियन्त्रण था। गवर्नर-जनरल की आज्ञा के बिना बजट विधानसभा या राज्यसभा के सामने नहीं रखा जा सकता था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि बजट को दो भागों में बाँटा जा सकता था। पहले भाग में सरकार के आवश्यक खर्चे रखे जाते थे। यह कुल खर्चों का 85 प्रतिशत होता था। इस पर केन्द्रीय विधानमण्डल केवल सुझाव दे सकता था परन्तु उसकी स्वीकृति की आवश्यकता नहीं थी, शेष 15 प्रतिशत खर्चे बजट के दूसरे भाग में रखे जाते थे। इनके लिए विधानसभा की मंजूरी ली जाती थी परन्तु यहाँ भी गवर्नर-जनरल को विशेष शक्तियाँ प्राप्त थीं। यदि विधानसभा किसी माँग को अस्वीकार कर दे तो गवर्नर-जनरल अपनी विशेष शक्ति द्वारा उस माँग की मंजूरी दे सकता है। यदि सरकार की इच्छा के विरुद्ध विधानसभा किसी सरकारी माँग या खर्चे में कोई कटौती कर देती थी तो गवर्नर-जनरल अपनी विशेष शक्ति द्वारा उसको पूरा कर सकता था। ऐसा करते समय वह कह सकता था कि उसकी विशेष जिम्मेदारियों को निभाने के लिए ये खर्च आवश्यक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि गर्वनर-जनरल ही वित्तीय मामलों में सर्वेसर्वा था और केन्द्रीय विधानमण्डल (विधानसभा तथा राज्यसभा) तो उसके सामने बिल्कुल अशक्त था।

प्रान्तीय सरकार के ढाँचे में परिवर्तन
(Change in the Provincial Set-up)

द्वैध या दोहरे शासन का अर्थ—सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, वह प्रान्तीय ढाँचे में था। प्रान्तों में दोहरा शासन जारी किया गया। अंग्रेजी में दोहरे शासन को डाईआर्की कहा जाता है। डाइआर्की दो शब्दों से मिलकर बना है। डि यथा आर्किया। डि का अर्थ है—दो और आर्किया का अर्थ है—शासन। इस तरह से इसका अर्थ दो शासकों का शासन या दोहरा शासन। इस अधिनियम के अनुसार प्रान्तों में थोड़ी-सी उत्तरदायी सरकार जारी की गयी। सन् 1919 ई. के एक्ट से पहले भारत में एकात्मक सरकार थी और सारे विषय ही केन्द्रीय माने जाते थे। उस समय केन्द्रीय सरकार शासन को अच्छी तरह चलाने के लिए कुछ विभागों या विषयों को अपनी इच्छा के अनुसार प्रान्तों को दे देती थी। इस अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों का पहली बार बँटवारा किया गया। बाद में प्रान्तीय विषयों को भी दो भागों में बाँटा गया—आरक्षित विषय तथा हस्तान्तरित विषय। आरक्षित विषयों के शासन को गर्वनर अपनी कार्यकारिणी परिषद् की सहायता से चलता था। उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य प्रान्तीय विधान परिषद् की तरफ जिम्मेदार नहीं होते थे। हस्तान्तरित विषयों को भारतीय मन्त्रियों को दे दिया गया। वे प्रान्तीय विधान परिषद् की तरफ जिम्मेदार होते थे। प्रान्तों में इस प्रकार की शासन व्यवस्था को ही दोहरा शासन कहा जाता था।

केन्द्र तथा प्रान्तों के विषयों पर बँटवारा—दोहरे शासन को विस्तारपूर्वक बताने से पहले केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों के बँटवारे पर थोड़ा-सा प्रकाश डालना आवश्यक है। जो विषय सारे भारत के हित के थे, उनको केन्द्रीय विषय रखा गया। 47 विषयों को केन्द्रीय विषय बनाया गया। उदाहरणस्वरूप, प्रतिरक्षा, विदेशों से सम्बन्ध, भारत से बाहर यात्रा, विदेशियों को भारत से बाहर यात्रा, विदेशियों को भारत की नागरिकता प्रदान करना, देशी रियासतों से सम्बन्ध, आवागमन के साधन (रेल, हवाई जहाज, पानी का जहाज), सीमा शुल्क, रुई इत्यादि पर उत्पादन कर, नमक, आयकर, डाकखाने, सिक्के तथा नोट, भारत में सार्वजनिक ऋण, वाणिज्य जिसमें बैंक तथा बीमा इत्यादि भी शामिल थे, केन्द्र को दिए गए। उदाहरणस्वरूप स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, चिकित्सा विभाग, शिक्षा, पानी की सप्लाई, पुलिस तथा जेल, न्याय, सहकारिता, जंगल, सिंचाई, अकाल में सहायता, कृषि, भूमिकर इत्यादि विषय प्रान्तीय सरकारों को दिए गए। यह भी व्यवस्था की गई कि यदि गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् किसी भी केन्द्रीय विषय को स्थानीय हित का घोषित कर दे तो उस विषय पर प्रान्तों को कानून बनाने का अधिकार हो जाएगा।

Scanned by CamScanner

इस अधिनियम में यह भी कहा गया कि जो विषय सूची में शामिल नहीं किए गए हैं, उन सब पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र का हो जाएगा। इसका यह अर्थ है कि शेष विषयों पर कानून बनाने की शक्तियाँ केन्द्र को दे दी गईं। जब कभी यह विवाद उत्पन्न हो जाता था कि कोई विषय प्रान्तीय है अथवा केन्द्रीय तो उस समय गवर्नर-जनरल का निर्णय अन्तिम समझा जाता था। केन्द्रीय सरकार को भी सब प्रान्तीय विषयों पर कानून बनाने की आज्ञा दी गई परन्तु ऐसा करने से पूर्व केन्द्रीय विधानमण्डल को गवर्नर जनरल से विशेष आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी। सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में विषयों का बँटवारा कोई सख्त नहीं था। गवर्नर-जनरल को इस बारे में काफी शक्तियाँ प्राप्त थीं क्योंकि विषयों के बँटवारे के बावजूद केन्द्र में संघात्मक सरकार जारी नहीं की गई थी। केन्द्र में सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार एकात्मक सरकार ही थी।

प्रान्तों में आरक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों का बँटवारा—प्रान्तीय विषयों के दो भागों में बाँटा गया—आरक्षित तथा हस्तान्तरित। जिन विषयों को भारतीयों को देने से ब्रिटिश सरकार का कोई अहित नहीं होता था जिनमें गलती होने से ब्रिटिश सरकार को कोई विशेष हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं थी और जिनका नियन्त्रण भारतीय अपने हाथों में विकास की दृष्टि से अधिक चाहते थे, उन विषयों को हस्तान्तरित किया गया। उसके शासन की जिम्मेदारी भारतीय मन्त्रियों के हाथों में दी गई। उदाहरणस्वरूप, स्थानीय स्वशासन, चिकित्सा शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई, ब्रिटिश भारत में यात्रा, यूरोपियन और आंग्ल भारतीयों की शिक्षा को छोड़कर शेष जनता की शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि, सहकारी समितियाँ, मछली क्षेत्र, उद्योग-धन्धे, खाद्य वस्तुओं में मिलावट जन्म तथा मृत्यु सम्बन्धी आँकड़े तोल और माप इत्यादि विषय हस्तान्तरित रखे गए। 50 विषय में से लगभग 22 विषय हस्तान्तरित रखे गए, शेष विषय आरक्षित रखे गए। जितने भी अधिक महत्वपूर्ण विषय थे, वे सब आरक्षित रखे गए। उदाहरणस्वरूप—भूमिकर, अकाल सहायता, न्याय-प्रशासन, खनिज साधनों का विकास, उत्पादन पूर्ति और बाँट पर नियन्त्रण, पुलिस, समाचार-पत्रों, पुस्तकों और छापेखानों पर नियन्त्रण, प्रान्तीय सरकार के नाम पर उधार लेना, प्रान्तीय वित्त इत्यादि आरक्षित विषय रखे गए। आरक्षित विषयों के शासन की जिम्मेदारी गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् की रखी गयी। गवर्नर अपनी कार्यकारिणी सहित इन विषयों के शासन के लिए प्रान्तीय विधान परिषद् की तरफ जिम्मेदार न होकर गवर्नर-जनरल तथा भारत सचिव की तरफ ही जिम्मेदार थे जो स्वयं लन्दन में ब्रिटिश सरकार तथा पार्लियामेण्ट की तरफ जिम्मेदार थे। इस तरह से रिजर्व या आरक्षित विषयों पर प्रान्तीय विधान परिषद् का नियन्त्रण नहीं था। जहाँ यह विवाद उत्पन्न होता था कि कोई विषय आरक्षित था अथवा हस्तान्तरित, वहाँ गर्वनर का निर्णय अन्तिम समझा जाता था।

प्रान्तों पर केन्द्रीय नियन्त्रण में ढिलाई—प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया कि केन्द्र का प्रान्तों पर कुछ नियन्त्रण ढीला किया जाए। सन् 1919 ई. की एक्ट के पूर्व प्रत्येक प्रान्तीय विषय के लिए गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी परन्त सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार यह निर्धारित किया गया कि प्रान्तीय सूची पर कानून बनाने के लिए कुछ विशेष मामलों को छोड़कर शेष मामलों में गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होगी। केन्द्रीय सरकार उस समय प्राय: हस्तक्षेप नहीं करती थी जब प्रान्तीय सरकार किसी हस्तान्तरित विषय पर कानून बनाती थी, परन्तु जब यह किसी आरक्षित विषय पर कानून बनाती थी तो यह (केन्द्र सरकार) कभी-कभी हस्तक्षेप करती थी।

जहाँ कानूनी क्षेत्र में कुछ केन्द्रीय नियन्त्रण में ढिलाई की गई, वहाँ शासन सम्बन्धी क्षेत्रों में भी कुछ ढिलाई आवश्यक हो गई। जहाँ तक सन् 1919 ई. के अधिनियम का सम्बन्ध था, उसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की निगरानी, निर्देश और नियन्त्रण में रहेंगी और उनका यह कर्तव्य होगा कि वे सरकार को हर महत्वपूर्ण मामले की सूचना देती रहें। जहाँ तक हस्तान्तरित विषयों का सम्बन्ध था भारत सरकार (केन्द्रीय सरकार) का नियन्त्रण बहुत ढीला कर दिया गया और यह प्रान्तों के मामलों में प्राय: हस्तक्षेप नहीं करती थी परन्तु जहाँ तक आरक्षित विषयों का सम्बन्ध था। केन्द्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर नियन्त्रण बहुत ढीला नहीं किया गया। उदाहरणस्वरूप, क्रान्तिकारी और राजनीतिक आन्दोलनों को दबाने के लिए भारत सरकार का गृह विभाग सारे प्रान्तों के निर्देश जारी करता था और उनका प्रान्तों को पालन करना पड़ता था।

वित्तीय क्षेत्र में भी केन्द्रीय नियन्त्रण कुछ ढीला किया गया। प्रान्तों को कुछ विषयों पर अलग कर लगाने की आज्ञा दी गई। प्रान्तों को कुछ अलग साधनों से टैक्स इकट्ठा करने की भी आज्ञा दे दी गई। इस तरह से केन्द्र और प्रान्तों के राजस्व के साधनों से टैक्स इकट्ठा करने की भी आज्ञा दे दी गई। इस तरह से केन्द्र और प्रान्तों के राजस्व के साधनों को अलग-अलग कर दिया गया। इससे प्रान्तीय सरकारों की केन्द्रीय सरकार पर निर्भरता कुछ कम हो गई और प्रान्त काफी हद तक वित्तीय

Scanned by CamScanner

मामलों में आत्मनिर्भर बन गए। इस तरह से सन् 1919 ई. के अधिनियम का बड़ा भारी महत्व है कि इसके द्वारा चाहे प्रान्तीय स्वराज्य एकदम न शुरू किया गया हो परन्तु इसके द्वारा उस दिशा में पहला कदम अवश्य उठाया गया। इसी मार्ग पर चलते हुए बाद में सन् 1935 ई. के अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय स्वराज्य एक वास्तविकता बन गया।

दोहरा शासन
(Dyarchy)

हमने यह बता दिया है कि प्रान्तों में थोड़ी-सी उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए विषयों को हस्तान्तरित तथा आरक्षित में बाँटा गया। उसी के बारे में आगे बताया गया है—

गवर्नर तथा उसके मन्त्री (हस्तान्तरित विषय)—हस्तान्तरित विषयों का प्रान्तों में शासन चलाने के लिए मन्त्री नियुक्त किए गए। उनकी अधिक-से-अधिक संख्या निश्चित नहीं की गई। बम्बई (मुम्बई), कलकत्ता (कोलकाता) और मद्रास (चेन्नई) में तीन मन्त्री नियुक्त किए गए और शेष प्रान्तों में केवल दो मन्त्री वास्तव में नियुक्त किए गए। मन्त्री गनर्वर द्वारा नियुक्त किए जाते थे और उनके प्रसादपर्यन्त (कृपा तक) अपने पद पर बने रहते थे। मन्त्रियों को विधान परिषद् के सदस्यों में से प्रायः नियुक्त किया जाता था। किसी भी सरकारी अधिकारी को मन्त्री नियुक्त नहीं किया जा सकता था।

यदि किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री नियुक्त कर दिया जाता था जो विधान परिषद् का सदस्य नहीं था तो उसे 6 महीने के अन्दर विधान परिषद् का सदस्य बनना पड़ता था। यदि वह व्यक्ति 6 महीने में सदस्य नहीं बन सकता था, तो वह मन्त्रिपरिषद् में नहीं रह सकता था।

संयुक्त चयन समिति ने यह सिफारिश की थी कि मन्त्रियों को तब तक उतना ही वेतन मिले, जितना गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को मिले, जब तक प्रान्तीय विधान परिषद् उसमें कोई कमी न करे। इसका यह परिणाम हुआ कि इस एक्ट में प्रान्तीय विधान परिषद् को मन्त्रियों के वेतन में कटौती का अधिकार दे दिया गया था। बम्बई (मुम्बई) विधान परिषद् ने वास्तव में प्रत्येक मन्त्री का वार्षिक वेतन 64,000 रु. से घटाकर 48,000 रु. कर दिया था।

व्यवहार में गवर्नर ऐसे व्यक्तियों को मन्त्री नियुक्त करता था जिनके पीछे विधान परिषद् के कुछ सदस्य हों। जिन व्यक्तियों को विधान परिषद् का विश्वास प्राप्त नहीं होता था, उनकी विधान परिषद् अविश्वास प्रस्ताव द्वारा हटा सकती थी। जब मन्त्रियों के वेतन की मन्जूरी प्रतिवर्ष विधान परिषद् से ली जाती थी तो उस समय भी मन्त्रियों के काम खराब होने पर उनकी आलोचना की जाती थी। विधान परिषद् के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न भी पूछ सकते थे, इस तरह से मन्त्रियों को विधान परिषद् की सद्भावना पर निर्भर रहना पड़ता था। जिस मन्त्री में विधान परिषद् को विश्वास नहीं होता था, उसे अपना त्याग-पत्र देना पड़ता था। उत्तर प्रदेश में एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर दिया गया और वहाँ के गवर्नर को अपनी इच्छा के विरुद्ध उस मन्त्री को हटाना पड़ा। इससे पता चलता है कि प्रान्तों में हस्तान्तरित विषयों में मन्त्रियों को विधान परिषद् के अधीन अवश्य कर दिया गया था परन्तु मन्त्रियों की स्थिति बहुत कठिन थी। इन्हें गवर्नर को भी प्रसन्न रखना पड़ता था। "गवर्नर को भी बिना कारण बताए हुए मन्त्रियों को हटाने का अधिकार था।" इस तरह से मन्त्रियों को दो स्वामियों को प्रसन्न करना पड़ता था।

सन् 1919 ई. के एक्ट के अनुसार राज्यपालों (गवर्नर) को एक निर्देश पत्र जारी किया गया जिसमें राज्यपालों से कहा गया कि मन्त्रियों की सलाह को मानने या उनकी उनकी करते हुए वे उनके (मन्त्रियों के) विधान परिषद् से सम्बन्धों और जनता के प्रतिनिधियों की इच्छा का ध्यान रखें। राज्यपाल मन्त्रियों की सलाह की उपेक्षा या उनकी इच्छा के विरुद्ध तभी कार्य कर सकता था जब प्रान्त की सुरक्षा और शान्ति थोड़ी संख्या वाली जातियों अथवा पिछड़ी हुई जातियों की उन्नति और कल्याण, सार्वजनिक सेवा के हितों की रक्षा और धार्मिक अथवा जातीय झगड़ों से जनता को बचाने के लिए वह ऐसा करने पर विवश हो जाए। गवर्नर की भी जिम्मेदारी थी कि भारत सचिव तथा गवर्नर-जनरल के सब आदेशों का पूरी तरह पालन हो। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि मन्त्रियों की सलाह से प्रान्त की सुरक्षा या शान्ति में कोई बाधा उपस्थित हो या वह सलाह थोड़ी संख्या वाली जातियों या पिछड़ी हुई जातियों के हितों के विरुद्ध हो या वह सार्वजनिक सेवाओं के लिए उचित न हो या वह भारत सचिव अथवा गवर्नर-जनरल के आदेशों के विरुद्ध हो तो गवर्नर उनकी (मन्त्रियों की सलाह की) परवाह न करके अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकता था। यद्यपि इस एक्ट के बनाने वालों का इरादा था कि मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को उत्साहित किया जाए परन्तु व्यवहार में गवर्नरों ने इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया और वे मन्त्रियों से इकट्ठा विचार-विमर्श करने के बजाय अलग-अलग ही करते रहे। इससे राज्यपालों (गवर्नरों) के हाथ में सारी शक्तियाँ बनी रहीं और मन्त्रियों को गवर्नरों के विरुद्ध इकट्ठा होकर कुछ कहने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ।

Scanned by CamScanner

राज्यपालों के लिए निर्देश-पत्र—राज्यपाल या मन्त्रियों से अपने सम्बन्धों में मार्गदर्शन करने के लिए राज्यपालों को एक निर्देश-पत्र जारी किया गया। भारत सरकार सन् 1919 ई. के अधिनियम में यह उपबन्ध रखा गया कि, "हस्तान्तरित विषयों के बारे में राज्यपाल अपने मन्त्रियों के परामर्श को तब तक मानेगा जब तक कि वह उनकी सम्मति में मतभेद रखने का कोई विशेष कारण न समझे। उस समय वह मन्त्रियों की सम्मति की उपेक्षा करके अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकेगा।"

राज्यपाल की विशेष जिम्मेदारियाँ—इन सामान्य जिम्मेदारियों के अतिरिक्त चाहे इस अधिनियम के द्वारा उत्पन्न की गई थीं अथवा किसी अन्य तरीके से उत्पन्न की गई थीं, निर्देश-पत्र ने राज्यपाल को निम्नलिखित जिम्मेदारियाँ सौंपी—

(1) यह देखना कि प्रान्त के सभी भागों में सुरक्षा और शान्ति स्थापित की जाए, धार्मिक और प्रजातीय झगड़े दूर किए जाएँ तथा जो आदेश भारत सचिव अथवा महाराज्यपाल द्वारा जारी किए जाएँ, उन सबका पालन किया जाए।

(2) अल्पसंख्यक तथा पिछड़ी हुई जातियों के समाज कल्याण और प्रगति के लिए व्यवस्था करना।

(3) अपने प्रान्त में लगे हुए नागरिक सेवाओं के सब सदस्यों के माने हुए अधिकार और विशेषाधिकार की रक्षा करना, ताकि वे अपने उचित कार्य कर सकें।

(4) यह देखना कि सरकार का कोई आदेश या विधान परिषद् का कोई अधिनियम लोगों को उनके विभिन्न हितों अथवा प्रजाति धर्म, शिक्षा, सामाजिक दशाओं, धन, विशेषाधिकारों तथा लाभों से वंचित न करे जो कि लोगों को अब तक मिलते रहे हैं या बाद में उनको मिलने वाले हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि भारत सरकार के सन् 1919 ई. के अधिनियम में राज्यपाल को बहुत-सी विशेष जिम्मेदारियाँ सौंपी। अपनी विशेष जिम्मेदारियों को निभाने के लिए राज्यपाल अपने मन्त्री से किसी भी महत्त्पूर्ण मामले पर असहमत हो सकता था और अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता था। इस तरह से वह न तो सन् 1919 ई. के अधिनियम का उल्लंघन करता था और न ही निर्देश-पत्र का उल्लंघन करता था और साथ में अपनी मनमानी भी कर सकता था। भारतीय वैधानिक आयोग के अनुसार, "राज्यपाल के पास साधारण और असाधारण शक्तियाँ मिला दी गईं। वह दैनिक प्रशासन का भाग है परन्तु उसका यह प्राधिकार आरक्षित है जिसके कारण वह साधारण प्रक्रियाओं का उल्लंघन कर सकता है, जबकि उसको यह विश्वास हो जाए कि प्रान्त के साधारण प्रशासन में उसके विशिष्ट हस्तक्षेप की आवश्यकता है।" इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्यपाल का हस्तक्षेप केवल असाधारण परिस्थितियों तक ही सीमित नहीं था, अपितु साधारण परिस्थितियों में भी था।

गवर्नर की कार्यकारिणी के सब सदस्य पाँच वर्ष के लिए ब्रिटिश ताज द्वारा भारत सचिव की सिफारिशों पर नियुक्त किए जाते थे। उनकी नियुक्ति में गवर्नर का भी हाथ रहता था। व्यवहार में जिन व्यक्तियों के नाम की सिफारिश गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल कर देते थे, उन्हीं को भारत सचिव की स्वीकृति दे देता था। उसके वेतन अधिनियम में निर्धारित कर दिए गए थे और उसमें प्रान्तीय विधान परिषद् कोई कटौती नहीं कर सकती थी। वे प्रान्तीय विधान परिषद् के पदेन सदस्य थे, परन्तु इसकी तरफ उत्तरदायी नहीं थे। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रान्तीय विधान परिषद् उन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उस तरह नहीं हटा सकती थी, जिस तरह यह मन्त्रियों को हटा सकती थी। वे वास्तव में केवल गवर्नर सहित भारत सचिव की ओर उत्तरदायी थे। चूँकि गवर्नर सारे प्रान्तीय शासन के लिए गवर्नर-जनरल भारत सचिव की तरफ जिम्मेदार था, इसलिए गवर्नर का अपनी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों के ऊपर प्रभावशाली नियन्त्रण था।

आरक्षित तथा हस्तान्तरित पक्षों में सम्बन्ध तथा गवर्नर का महत्वपूर्ण कार्य—यद्यपि मन्त्रियों तथा कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति के तरीकों, अवधि और विधान परिषद् के साथ सम्बन्धों में महान् अन्तर था, तथापि सन् 1919 ई. के अधिनियम के बनाने वालों का यह उद्देश्य नहीं था कि ये दोनों पक्ष अलग-अलग रहें। उनका यह इरादा था कि दोनों पक्ष गवर्नर के नेतृत्व में आपस में मिल-जुलकर कार्य करें। इसलिए बाद में बनाए हुए नियमों में इस बात पर बल दिया गया कि गवर्नर दोनों पक्षों में सामूहिक विचार-विमर्श को उत्साहित करें। इसका कारण यह था कि सरकार के अनेक विषय होते थे, जिनका प्रभाव दोनों पक्षों पर पड़ता था। उदाहरणस्वरूप, जहाँ तक कर लगाने का सम्बन्ध था या उधार लेने अथवा धन के बँटवारे का सम्बन्ध था, दोनों पक्ष समान रूप से इन मामलों में रुचि रखते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों पक्षों की बैठक में गवर्नर को बहुमत से एक संयुक्त निर्णय लेना होता था बल्कि यह है कि उनके विचारों को जानने के लिए संयुक्त बैठक बुलानी वांछनीय थी। जहाँ तक निर्णयों का सम्बन्ध था, गवर्नर मन्त्रियों की अलग और कार्यकारिणी परिषद् की अलग बैठक बुला सकता था।

गवर्नर का वित्त पर नियन्त्रण—चूँकि वित्त एक आरक्षित विषय था और उसके प्रशासन की जिम्मेदारी गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् की थी, अत: गवर्नर के पास इस विषय में बहुत अधिक शक्तियाँ थीं। बजट की तैयारी में उसका पूरा हाथ होता था क्योंकि उसके आदेशों के अनुसार बजट तैयार होता था। आरक्षित विषयों पर कितना खर्च हो और

Scanned by CamScanner

हस्तान्तरित विषयों पर कितना हो, इसके बारे में निर्णय करने के लिए वह मन्त्रियों तथा अपनी कार्यकारिणी परिषद् की एक संयुक्त बैठक बुलाता था। दोनों पक्षों में मतभेद होने पर गवर्नर का निर्णय अन्तिम समझा जाता था। लगभग 70 प्रतिशत प्रान्तीय शासन का खर्च ऐसा होता था जिस पर विधान परिषद् अपना मतदान नहीं कर सकती थी। वह उस खर्चे पर बहस कर सकती थी और अपने सुझाव दे सकती थी। यदि विधान परिषद् आरक्षित विषयों से सम्बन्धित किसी माँग के बारे में इन्कार करती थी या उसमें कटौती करती थी तो गवर्नर इन्कार की हुई या कम की गई रकम की पूर्ति यह कहकर कर सकता था कि वह खर्च उस विषय के प्रशासन को ठीक तरह चलाने के लिए बहुत आवश्यक है।

यदि विधान परिषद् किसी हस्तान्तरित विषय से सम्बन्धित माँग में कटौती कर देती थी या स्वीकृति से इन्कार कर देती थी तो वह उस माँग की पूर्ति नहीं कर सकता था परन्तु संकटकालीन अवस्था में प्रान्त की शान्ति कायम रखने के लिए वह इस खर्चे की स्वीकृति अपने विशेष अधिकार द्वारा दे सकता था। विधान परिषद् द्वारा हस्तान्तरित विषय से सम्बन्धित किसी भी कम की हुई माँग पर वह इतने खर्च की मन्जूरी दे सकता था जितना खर्च इसके बारे में पिछले वर्ष हुआ था। गवर्नर ने अपनी इन विशेष वित्तीय शक्तियों का प्रयोग बंगाल और मध्य प्रान्त में खूब किया क्योंकि वहाँ स्वराजिस्ट पार्टी का बहुमत था और वह सरकार को पूरा सहयोग देने के लिए तैयार नहीं थी। इस तरह से वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता था और आर्थिक मामलों में उसके पास अन्तिम शक्तियाँ थीं।

प्रान्तीय विधान मण्डल
(The Provincial Legislature)

प्रान्तीय विधान परिषद् की रचना—इस अधिनियम के अनुसार व्यवस्था की गई कि कम-से-कम 70 प्रतिशत सदस्य प्रत्येक विधान परिषद् में चुने हुए होंगे और 20 प्रतिशत से अधिक सरकारी अधिकारी नहीं होंगे। चुने हुए सदस्य और सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त परिषद् में कुछ नामजद गैर-सरकारी अधिकारी भी थे। इससे पता चलता है कि प्रान्तों में चुने हुए सदस्यों का बहुमत स्थापित कर दिया गया। हरिजनों को काफी प्रतिनिधित्व देने के लिए उनके सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था की गई। गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य पदेन विधान परिषद् के सदस्य थे।

चुनाव क्षेत्र तथा मताधिकार—मार्ले-मिण्टो सुधारों की अपेक्षा मताधिकार अब अधिक विस्तृत कर दिया गया था परन्तु फिर भी यह इतना सीमित रहा कि सन् 1920 ई. में ब्रिटिश भारत की 24 करोड़ 17 लाख आबादी में से केवल 53 लाख आबादी को मताधिकार दिया गया। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि लगभग 2.5 प्रतिशत आबादी को ही मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। मताधिकार के लिए योग्यताएँ प्रत्येक प्रान्त में बहुत भिन्न-भिन्न थीं। प्राय: ऐसा किया गया जो लोग देहाती क्षेत्रों में 10 रुपए से लेकर 50 रुपए तक प्रतिवर्ष भूमि-कर देते थे, उनको मताधिकार दे दिया गया। नगरों में जो कम-से-कम 2,000 रुपए वार्षिक आमदनी पर आय-कर देते थे या जिनको मकान से कम-से-कम 36 रुपए वार्षिक किराया मिलता था या जो 36 रुपए वार्षिक किराया देते थे या जो नगरपालिका को कम-से-कम 3 रुपए वार्षिक कर देते थे, वे अपना नाम मतदाताओं की सूची में लिखवा सकते थे।

चुनाव-क्षेत्रों को सामान्य चुनाव-क्षेत्रों तथा विशेष क्षेत्रों में बाँट दिया गया। सामान्य चुनाव-क्षेत्र मुसलमान, गैर-मुस्लिम, ईसाई, आंग्ल-भारतीय समुदाय और सिक्ख इत्यादि के लिए बनाए गए। विशेष चुनाव-क्षेत्र यूनिवर्सिटी वाणिज्य, उद्योग और जिम्मेदारों के लिए बनाए गए। सामान्य चुनाव-क्षेत्रों को भी देहाती और शहरी चुनाव-क्षेत्रों में बाँट दिया गया और जैसा पहले बताया जा चुका है कि वहाँ पर मताधिकार के लिए योग्यताएँ भी काफी अलग-अलग रखी गईं। सामान्य चुनाव-क्षेत्र में प्रत्यक्ष निर्वाचन रखा गया। नारियों को मताधिकार नहीं दिया गया परन्तु यह व्यवस्था की गई कि प्रान्तीय विधान परिषद् नारियों को मताधिकार दे सकेगी। प्रान्तीय विधान परिषद् ने बाद में नारियों को भी मताधिकार दे दिया था।

विधान परिषद् की कानूनी शक्तियाँ तथा गवर्नर—प्रान्तीय विधान परिषद् को यह शक्ति दी गई कि वह अपने प्रान्त की शान्ति तथा अच्छी सरकार के लिए कानून बनाए। सन् 1919 ई. के अधिनियम से पहले प्रत्येक प्रान्तीय कानून के लिए गवर्नर-जनरल की पूर्व आज्ञा लेना आवश्यक था परन्तु सन् 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार यह तय किया गया कि कुछ विशेष मामलों को छोड़कर शेष को गवर्नर की पूर्व आज्ञा की आवश्यकता नहीं रहेगी परन्तु प्रत्येक प्रान्तीय बिल विधान परिषद् द्वारा पास होने पर कानून तभी बन सकता था जब गवर्नर तथा जनरल अपनी स्वीकृति दे दें। प्रान्तीय विधान परिषद् को जिन विशेष मामलों में कानून बनाने से पूर्व गवर्नर-जनरल की आज्ञा लेनी पड़ती थी, वे निम्नलिखित थे—

(1) कोई ऐसा कर लगाना जिसकी शक्ति प्रान्तीय विधान परिषद् को प्राप्त नहीं है।

(2) सार्वजनिक ऋण।

Scanned by CamScanner

(3) सरकार के देशी राजाओं तथा विदेशी राज्यों से सम्बन्ध।

(4) सेना के अनुशासन या इसके किसी भाग के संगठन को प्रभावित करना।

(5) किसी केन्द्रीय विषय को प्रभावित करना।

प्रान्तीय विधान परिषद् को ऐसे कानूनों को बनाने की स्पष्ट रूप से मनाही कर दी गई जिसका प्रभाव ब्रिटिश संसद द्वारा बनाए हुए अधिनियमों पर पड़ता हो।

राज्यपाल को कानूनी क्षेत्र में बहुत शक्ति दी गई है। वह किसी भी विधेयक को विधान परिषद् के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकता था। वह किसी भी बिल को गवर्नर-जनरल के विचार के लिए आरक्षित कर सकता था। गवर्नर-जनरल भी किसी विधेयक को विधान परिषद् के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकता था। वह किसी भी विधेयक को ब्रिटिश सम्राट् की सरकार के लिए विचार के लिए आरक्षित कर सकता था। यदि आरक्षित विषय पर विधान परिषद् उस रूप में बिल पास करने से इन्कार कर दे जिस तरह गवर्नर चाहता था तो बिल को अपनी प्रमाण-शक्ति द्वारा यह कहकर पास कर सकता था कि, "उस विषय से सम्बन्धित उसकी विशेष जिम्मेदारी निभाने के लिए इस बिल को पास करना आवश्यक है। ऐसा न हो कि गवर्नर अपनी इन शक्तियों का कभी दुरुपयोग न करे इसलिए यह व्यवस्था की गई कि इस प्रकार पास किया हुआ प्रत्येक बिल गवर्नर-जनरल के पास जाएगा और वह तब ही कानून बन सकेगा जब उस पर ब्रिटिश सम्राट् को स्वीकृति प्राप्त हो जाए। संकटकालीन अवस्था में गवर्नर-जनरल उस कानून की अनुमति दे सकता था परन्तु बाद में यह आवश्यकता पड़ने पर ब्रिटिश सम्राट् द्वारा रद्द किया जा सकता था। गवर्नर द्वारा इस प्रकार के पाए किए हुए अधिनियम की स्वीकृति ब्रिटिश संसद से भी लेनी पड़ती थी।

विधान परिषद् की वित्तीय शक्तियाँ—विधान परिषद् को बहुत-सी शक्तियाँ दी गईं परन्तु गवर्नर की विशेष शक्तियों द्वारा उन पर अनेक रुकावटें भी लगा दी गईं, ताकि विधान परिषद् गवर्नर की इच्छा के अनुसार किसी माँग को पास न करे तो उसको गवर्नर अपनी विशेष शक्ति द्वारा पास करे। इस तरह से वित्तीय मामलों में अन्तिम नियन्त्रण गवर्नर के हाथ में था। बजट को दो भागों में बाँट दिया जाता था। पहले भाग में वे राशियाँ शामिल की जाती थीं जिन पर विधान परिषद् अपना मत नहीं दे सकती थी परन्तु केवल बहस कर सकती थी। इस तरह के लगभग 70 प्रतिशत खर्चे पर विधान परिषद् का कोई नियन्त्रण नहीं था, शेष 30 प्रतिशत बजट पर विधान परिषद् अपना मत दे सकती थी। वह किसी खर्चे में कटौती भी कर सकती थी। मन्त्रियों के वेतन में विधान परिषद् कटौती कर सकती थी परन्तु गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों के वेतन में कटौती करने का उसे कोई अधिकार नहीं था।

जिन खर्चों पर विधान परिषद् का कोई नियन्त्रण नहीं था, वे निम्नलिखित थे—(1) प्रान्तीय सरकार द्वारा गवर्नर-जनरल की कौन्सिल के खर्चे के लिए दिया हुआ धन। (2) भारत सचिव और उसकी परिषद् या ब्रिटिश सम्राट् द्वारा अथवा उसकी मन्जूरी से नियुक्त किए हुए व्यक्तियों के वेतन तथा पेन्शन। (3) महाधिवक्ता तथा प्रान्त के हाईकोर्ट के जजों के वेतन। (4) ऋणों पर डूबते हुए फण्ड का भारतीय व्यय तथा सूद।

इन खर्चों पर विधान परिषद् अपना मत नहीं दे सकती थी अर्थात् वह उनमें कोई कटौती नहीं कर सकती थी।

मन्त्री तथा कार्यकारिणी परिषद् पर विधान परिषद् का नियन्त्रण—प्रान्तों में मन्त्रियों को इस अधिनियम के अनुसार विधान परिषद् की तरफ उत्तरदायी बनाया गया। यह उनको अविश्वास तथा निन्दा प्रस्ताव तथा अन्य तरीकों से हटा सकती थी परन्तु गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को इसे हटाने का अधिकार न था। यह तो केवल उनसे प्रश्न, पूरक प्रश्न पूछ सकती थी। विधान परिषद् के सदस्य काम रोको प्रस्ताव रख सकते थे।

Scanned by CamScanner